मंथन क्रमांक 74

चरित्र पतन का कारण व्यक्ति या व्यवस्था

किसी भी व्यक्ति के चरित्र निर्माण मे उसके जन्म पूर्व के संस्कारो का महत्व होता है। साथ ही पारिवारिक वातावरण और सामाजिक परिवेश भी महत्व रखते है। सामाजिक परिवेश को ही समाजिक व्यवस्था का नाम दिया जाता है जिसमे पारिवारिक व्यवस्था भी शामिल होती है। बहुत प्राचीन समय मे व्यक्ति के गुण और स्वभाव के आधार पर परीक्षाए लेकर उनके वर्ण निर्धारित करने की प्रक्रिया बताई जाती है और वर्ण के आधार पर उनका कर्म के अनुसार विभाजन करके जातियां बनती थी। इसका अर्थ हुआ कि व्यक्ति महत्वपूर्ण न होकर चरित्र निर्माण मे व्यवस्था महत्वपूर्ण होती थी । बाद मे धीरे–धीरे व्यवस्था टूटने लगी और व्यक्ति महत्वपूर्ण होने लगे। राजा का बेटा ही राजा और विद्वान का बेटा ही विद्वान घोषित होगा, चाहे उसके संस्कार कैसे भी हो, चाहे उसकी योग्यता कुछ भी क्यो न हो। परिवार का मुखिया भी मां के गर्भ से बनने लगा । इस सामाजिक विकृति के कारण अनेक प्रकर की समस्याएं पैदा हुईं ।

जब कोई व्यक्ति व्यवस्था का निर्माता और संचालक साथ साथ होता है उसे तानाशाही कहते है । जब अलग अलग व्यक्ति व्यवस्था के निर्माता और संचालक होते है उसे लोकतंत्र कहते है। किन्तु जब किसी व्यवस्था से प्रभावित सभी लोग मिलकर व्यवस्था बनाते है और उस व्यवस्था के अनुसार सब लोग काम करते है, उस व्यवस्था को लोक स्वराज्य कहते है। पश्चिम के देशो मे लोक स्वराज्य और लोकतंत्र के बीच की राजनैतिक तथा पारिवारिक व्यवस्था काम करती है। भारत सहित दक्षिण एशिया के अधिकांश देशो में लोकतंत्र और तानाशाही के बीच की राजनैतिक व्यवस्था काम करती है। अधिकांश मुस्लिम और साम्यवादी देशो मे व्यवस्था लगभग पूरी तरह तानाशाही की ओर झुकी रहती है। भारत मे परिवारो की आंतरिक व्यवस्था मे भी तानाशाही का ही प्रभाव प्रमुख होता है। इसका अर्थ हुआ कि व्यवस्था से व्यक्ति नही चलता बल्कि व्यक्ति के अनुसार व्यवस्था चलती है। व्यक्ति के अनुसार व्यवस्था परिवारो मे भी है धार्मिक व्यवस्था मे भी है, राजनैतिक व्यवस्था मे भी है, तथा सामाजिक व्यवस्था भी इससे भिन्न नही है।

व्यक्ति दो प्रकार के होते है। 1 अच्छे 2 बुरे। आज तक दुनियां मे ऐसा कोई भौतिक मापदंड नही बना जिसके आधार पर किसी व्यक्ति को अतिम रूप से अच्छा या बुरा मान लिया जाये। इसका अर्थ हुआ कि यदि व्यक्ति ही व्यवस्था बनाने का काम करेगा तो व्यवस्था के अच्छे या बुरे होने की संभावनाए पचास पचास प्रतिशत ही होगी। क्योकि व्यवस्था बनाने वाला अच्छा आदमी होगा, इसका कोई पैमाना नही है। ऐसी अच्छी बुरी व्यवस्था मे जीने के लिये व्यक्ति समूह मजबूर होगा । इसलिये सारी दुनियां मे लगातार नैतिक पतन हो रहा है। धूर्त लोग व्यवस्था बनाने मे आगे आ जाते है। आप विचार करिये कि हजारो वर्षो से स्वामी विवेकानंद, दयानंद, चाणक्य आदि अनेक महापूरूष सामाजिक व्यवस्था बनाते रहे । आज भी अनेक महापूरूष निरंतर सामाजिक व्यवस्था बनाने मे संलग्न हैं। राजनेता भी लगातार व्यवस्था बनाते रहे है और बना रहे हैं। स्वतंत्रता के तत्काल बाद की राजनैतिक व्यवस्था मे आज की अपेक्षा कई गुना चरित्रवान लोग थे। इन सब प्रयत्नो के बाद भी व्यक्ति का चरित्र नीचे जा रहा है। यहां तक कि चरित्र निर्माण करने वाले महत्वपूर्ण लोगो का भी चरित्र का स्तर गिर रहा है। स्वाभाविक है कि यदि चरित्र निर्माण का कार्य व्यवस्था की अपेक्षा व्यक्ति करेगा तो चरित्र पतन का खतरा निरंतर बना ही रहेगा। यदि व्यक्ति चरित्र निर्माण की भूमिका मे रहेगा तो ऐसा क्या तरीका हो सकता है कि किसी अच्छे व्यक्ति को चुनकर यह दायित्व सौपा जाये? आवश्यक है कि ऐसे व्यक्ति को चुनने वाला व्यक्ति चुने जाने वाले से अधिक चरित्रवान होना चाहिये। किन्तु दुनियां मे ऐसा कोई तरीका न तो आज तक बन सका है न ही बन सकेगा कि सर्वोच्च चरित्रवान को चरित्र निर्माण तथा व्यवस्था बनाने के लिये किसी तरीके से चुना जाये । स्पष्ट है कि अन्ना हजारे , जय प्रकाश नारायण अथवा गांधी ने भी चरित्रवान व्यक्ति को व्यवस्था मे भेजने की वकालत की है किन्तु ये उनके व्यक्तिगत संस्कार हो सकते हैं, उचित मार्ग नही । किसी भी चुनाव द्वारा राजनैतिक प्रणाली मे अच्छे व्यक्ति को चुनकर भेजने की बात पूरी तरह गलत है। न तो कोई अच्छा व्यक्ति कभी चुना जा सकता है न ही उसका अच्छा रहना निश्चित है, तब इस अच्छे व्यक्ति को चुनने की सलाह को मृगतृष्णा से अधिक और कुछ कैसे समझा जाये । मै तो अच्छी तरह समझ चुका हूँ कि चुनाव प्रणाली मे सुधार और अच्छे लोगो को चुनने की बाते अनर्गल प्रलाप के अतिरिक्त कुछ नही है।

तंत्र से जुडे लोगो की संख्या भी सीमित होती है और शक्ति भी । यदि किसी देश मे बन चुके कानूनो की संख्या दो प्रतिशत से अधिक आबादी को प्रभावित करती है तो उक्त कानून को लागु करना कठिन होता है। ऐसे कानून समाज मे भ्रष्टाचार और चरित्र पतन के कारण बनते है। वर्तमान समय मे भारत मे निन्यानवे प्रतिशत लोग कानूनो से प्रभावित है । प्रत्येक व्यक्ति सैकडो कानूनो से प्रभावित होता है। भारत मे चरित्र पतन का मुख्य कारण कानूनो की बेशुमार संख्या है।

कल्पना करिये की एक ट्रेन मे यात्रा के लिये आप टिकट के लिये लाइन मे खडे है। दुसरे लोग धक्का देकर या भ्रष्टाचार द्वारा टिकट पहले ले लेते है और आप वही के वही खडे है। मन मे तीन तरह के सवाल उठते है । 1 क्या मै वही खडा रहूं और अपनी बारी का इंतजार करता रहूं। 2 क्या मै भी अन्य लोगो की तरह धक्के देकर या भ्रष्टाचार से टिकट प्राप्त कर लूँ। 3 क्या मै धक्का देने वालो को बल पूर्वक आगे बढने से रोकने का प्रयास करू। आज तक यह निर्णय नही हो सका कि कौन सा कार्य ठीक है। जो लोग चरित्र निर्माण को व्यवस्था से भी अधिक महत्वपूर्ण मानते है उन्हे उत्तर देना चाहिये कि तीनो मे से कौन सा मार्ग उचित है। मेरे विचार से सिर्फ चौथा मार्ग उचित है और वह है व्यवस्था परिवर्तन । व्यवस्था व्यक्ति की नही होगी बल्कि सामूहिक होगी । सामूहिक व्यवस्था से ही व्यक्ति अपनी सीमाओ मे चलने के लिये मजबूर होगा और यदि नही होगा तो व्यवस्था द्वारा मजबूर कर दिया जायेगा।

कल्पना करिये कि मुझे प्रतिबंधित सडक से सौ फुट चलकर किसी जगह जाना है। यदि स्वीकृत सडक से जायेगे तो एक किलो मीटर की दूरी है और प्रतिबंधित सडक से बहुत नजदीक है । मै देख रहा हूँ कि अनेक लोग मेरे सामने प्रतिबंधित सडक से जाने मे पांच पांच रूपया सिपाही को घूस देकर जा रहे है। मेरे सामने संकट है कि मै क्या करू। मै देखता हूँ कि अनेक लोग गर्व से कहते है कि वे घूस नही देते जबकि मै अपने को तौलता हूँ तो पाता हूँ कि बिना घूस दिये मेरा कोई काम नही होता । गर्व करने वाले मुझे दो नम्बर का व्यक्ति कहकर आत्म संतोष कर लेते है और मै उन लोगो को अव्यावहारिक मानकर अपने उपर गर्व करता हूँ । प्रश्न उठता है कि व्यवस्था मुझे दो नम्बर का कार्य करने के लिये मजबूर कर रही है या मै स्वयं गलत हूँ। मै लम्बे समय तक राजनीति मे रहा। तीस चालीस वर्ष पूर्व राजनीति मे इमानदार लोगो का जो प्रतिशत था वह आज घट कर लगभग शून्य हो गया है। इस पतन का कारण व्यक्ति का गिरता चरित्र नही है बल्कि व्यवस्था की कमजोरियो के कारण मजबूरी है। इक्के दुक्के उच्च चरित्रवान लोग अपने चरित्र के घमंड मे ऐसे व्यावहारिक लोगो का मजाक उडाते है । यदि मुझे कोई यह कहे कि आप जैसे अच्छे चरित्रवान व्यक्ति को ऐसा दो नम्बर का काम नही करना चाहिये था तो आप सोचिये कि मै उस मुर्ख को क्या कहूँ। इसलिये मै इस नतीजे पर पहुँचां कि व्यक्ति के चरित्र पर व्यवस्था का प्रभाव अधिक पडता है और शिक्षा प्रवचन उपदेश का कम । ये प्रवचन और उपदेश चरित्र वान लोगो को अधिक चरित्र की ओर प्रेरित कर सकते है किन्तु किसी चालाक या धूर्त को किसी तरह चरित्रवान नही बना सकते हैं बल्कि ऐसे दुष्चरित्र लोगो का ऐसा चरित्र वालो के उपदेश और प्रवचन मार्ग प्रशस्त करते है । यही कारण है कि आज सम्पूर्ण समाज मे चरित्र पतन की गति अधिक से अधिक तेज होती जा रही है । यदि अच्छे लोगो को व्यवस्था मे बिठाने या चुनने की अब्यावहारिक सलाह को पूरी तरह ठुकराकर व्यवस्था को ही ठीक करने का प्रयास किया जाता है तो बहुत कम समय मे चरित्र पतन को रोका जा सकता है। व्यवस्था का प्रभाव चरित्र पर पडता है चरित्र का व्यवस्था पर नही पडता । यह बात स्वीकार करनी चाहिये यह आदर्श वाक्य पूरी तरह भूल जाने की जरूरत है कि यदि अच्छा व्यक्ति सत्ता मे आयेगा तो सब ठीक कर देगा। यह सोच ही अव्यावहारिक है। इसलिये मेरे विचार से चरित्र निर्माण की अपेक्षा व्यवस्था परिवर्तन को अधिक महत्व दिया जाना चाहिये ।

कुछ निष्कर्ष निकले है–

1 व्यक्ति कितना भी महत्वपूर्ण क्यो न हो किन्तु व्यवस्था से नियंत्रित ही होना चाहिये। व्यवस्था कितनी भी महत्वपूर्ण क्यो न हो किन्तु समाज से नियंत्रित ही होनी चाहिये। वर्तमान समय मे व्यवस्था समाज पर और व्यक्ति व्यवस्था पर हावी होता जा रहा है।

2 संसदीय लोकतंत्र असफल है। इसे सहभागी लोकतंत्र के रूप मे बदलना चाहिये । भारत को इस दिशा मे पहल करनी चाहिये।

3 व्यवस्था समाज के नीचे होती है। व्यवस्था व्यक्ति को नियंत्रित या निर्देशित कर सकती है किन्तु व्यक्ति समूह अर्थात समाज को नही कर सकती।

4 व्यक्ति की तीन अलग अलग भूमिकाएं होती है। जब व्यक्ति होता है तब वह स्वतंत्र होता है। जब वह नागरिक होता है तब व्यवस्था का गुलाम होता है और जब वह समूह मे होता है तब व्यवस्था का मालिक होता है। व्यक्ति को अपनी सीमाएं समझनी चाहिये।

5 संविधान तंत्र को लोक के प्रतिनिधि के रूप मे नियंत्रित करता है। संविधान संशोधन मे तंत्र का हस्तक्षेप शून्य तथा लोक का सम्पूर्ण होना चाहिये।

6 तंत्र से जुडे किसी भी व्यक्ति या समूह को स्वयं प्रबंधक ही मानना और कहना चाहिये, सरकार नहीं। सरकार तो सिर्फ समाज ही हो सकता है, समाज का प्रतिनिधि नहीं। सरकार शब्द अहंकार भरा है मालिक का बोध कराता है तथा घातक है।

7 कानूनो की मात्रा जितनी अधिक होती है चरित्र पतन भी उतना ही अधिक होता है। कानून का पालन करने वाले कानून तोडने के लिये मजबूर हो जाते है और कानून के रक्षक भ्रष्ट । बहुत थोडे से कानून रखकर अन्य सारे कानून हटा लेने चाहिये ।

मंथन क्रमांक 75

व्यक्ति और नागरिक मे फर्क

व्यक्ति और समाज दुनियां की मूल इकाईयां होती हैं । उनके कभी किसी भी परिस्थिति मे भाग नही किये जा सकते। व्यक्ति एक प्रत्यक्ष इकाई है तो समाज अप्रत्यक्ष । राष्ट्र एक कृत्रिम इकाई है जो व्यक्तियो की सहमति से तथा समाज की स्वीकृति से बनती है। राष्ट्र की कोई भौगौलिक सीमा अवश्य होती है जबकि समाज की कोई भौगोलिक सीमा नहीं हुआ करती।

प्रत्येक व्यक्ति की दो भूमिकाए होती है। 1 सामाजिक 2 राष्ट्रीय । व्यक्ति हमेशा समाज का अंग होता है और नागरिक राष्ट्र का। प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार भी अलग अलग होते है। प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्ति के रूप मे जो प्राकृतिक अधिकार मिलते है उन्हे मौलिक अधिकार कहते है । इन प्राकृतिक अधिकारो के आधार पर व्यक्ति समाज का अंग होता है। इसके साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को कुछ संवैधानिक अधिकार भी प्राप्त होते है जो उन्हे राष्ट्र या राज्य के द्वारा दिये जाते है । इन्हे नागरिक अधिकार कहा जाता है। मै स्पष्ट कर दू कि समाज के सुचारू संचालन के लिये राज्य एक अनिवार्य आवश्यकता होती है। प्राकृतिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के समान होते है । उनमे कभी कोई भेद नही होता न ही वे अधिकार उसकी सहमति के बिना किसी भी तरह कम ज्यादा किये जा सकते है। नागरिक अधिकार संविधान प्रदत होते है और वे अलग अलग हो सकते है। साथ ही कम ज्यादा भी किये जा सकते है। इस तरह हम कह सकते है कि व्यक्ति समाज का अंग होता है और नागरिक राष्ट्र का । भले ही प्रत्येक व्यक्ति की दोनो भूमिकाए अलग अलग होते हुए भी उसी व्यक्ति मे निहित होती है।

किसी भी व्यक्ति की सहमति के बिना उसे समाज का अंग नही बनाया जा सकता। न ही उसकी सहमति के बिना उसके उपर कोई कानून थोपा जा सकता है। इसका अर्थ हुआ कि सिद्धान्त रूप से कोई भी व्यक्ति अकेला रह सकता है। किन्तु व्यावहारिक धरातल पर प्रत्येक व्यक्ति को समाज के साथ संबंद्धता उसकी मजबूरी होती है। क्योकि उसकी स्वतंत्रता की सुरक्षा की गारंटी समाज ही देता है। समाज भी उसकी सुरक्षा की गारंटी राज्य के माध्यम से ही देता है। इस तरह दुनियां का प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी राष्ट्र की नागरिकता के लिये मजबूर होता है और यह मजबूरी ही उसकी स्वीकृति है। अर्थात कोई भी व्यक्ति अकेला रहने के लिये स्वतंत्र है किन्तु वह अकेला रह नही सकता और उसे व्यक्ति और नागरिक की दोहरी भूमिका निभानी ही होती है।

कोई भी व्यक्ति यदि किसी अन्य देश मे जाता है और रहता है तो उसे भले ही उस देश के नागरिक अधिकार प्राप्त न हो किन्तु उसके सामाजिक अधिकार सुरक्षित रहते है । दुनिया का कोई भी कानून उस व्यक्ति की सहमति के बिना उसके प्राकृतिक अधिकारो मे किसी प्रकार की कोई कटौती नही कर सकता। साथ ही जब कोई व्यक्ति किसी देश का नागरिक बन जाता है तब उसके सारे प्राकृतिक अधिकार तब तक उस देश के संवैधानिक व्यवस्था के साथ सहमत मान लिये जाते है जब तक वह सहमत है । इसका अर्थ हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति किसी भी देश की नागरिकता कभी भी छोड सकता है और वह नागरिक कानूनो से मुक्त हो सकता है। किन्तु जब तक वह नागरिकता नही छोडता तब तक वह उस देश की कानूनो को मानने के लिये बाध्य है। इस तरह आदर्श राजनैतिक व्यवस्था मे किसी भी व्यक्ति को कभी भी देश छोडने से नही रोका जा सकता जब तक उसने कोई अपराध न किया हो। वर्तमान स्थिति यह है कि अनेक देश तो अपने नागरिको को देश छोडने के प्रयत्नो मे गोली तक मार देते है जबकि यह उसकी स्वतंत्रता है क्योकि उक्त व्यक्ति समाज का सदस्य पहले है और राष्ट्र का नागरिक बाद मे । इतना अवश्य है कि किसी भी व्यक्ति को किसी भी देश मे प्रवेश करने के पूर्व अनुमति स्वीकृति आवश्यक है ।

किसी भी देश का कानून उसकी सहमति के बिना व्यक्ति की स्वतंत्रता की कोई सीमा नही बना सकता न ही उसे दंड दे सकता है। इसका अर्थ हुआ कि किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता की सीमा बनाने मे भी उस व्यक्ति की अप्रत्यक्ष सहमति है। इतना अवश्य है कि जिस व्यक्ति ने किसी देश की नागरिकता स्वीकार की है उस देश के सारे कानूनो मे उस व्यक्ति की सहमति मान ली जाती है। इस तरह कानून के अनुसार व्यक्ति को दंडित करना उसकी अप्रत्यक्ष सहमति है।

आज सबसे बडी कठिनाई यह खडी हो गई है कि वर्तमान समय मे राष्ट्र और समाज के बीच का अंतर समाप्त हो गया है। आम तौर पर पढे लिखे लोग भी व्यक्ति और नागरिक के बीच का अंतर नही समझते। यह भी जानकारी नही हो पाती है कि मौलिक अधिकार और संवैधानिक अधिकार के बीच क्या फर्क होता है। अधिकांश लोग तो राष्ट्र को ही अंतिम इकाई मान लेते है और समाज को राष्ट्र के अंतर्गत कहने लग जाते है। अथवा कुछ लोग समाज के भी कई भाग कर देते है। ये सारा भ्रम जानकारी के अभाव मे फैल जाता है अथवा फैला दिया जाता है। व्यक्ति एक सर्व सम्प्रभुता सम्पन्न प्राकृतिक इकाई के रूप मे होता है और उसकी सहमति के बिना उसी स्वतंत्रता की कोई सीमा नही बनाई जा सकती । इस तरह यदि किसी राष्ट्र मे कोई कानून बनता है तो उस कानून के बनाने मे उस राष्ट्र के अंतर्गत आने वाले प्रत्येक व्यक्ति की सहमति

आवश्यक है। इसका अर्थ हुआ कि जब प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र से भी उपर समाज का अंग है तब सम्पूर्ण विश्व की भी कोई एक ऐसी व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये जिसकी सहमति या स्वीकृति से ही किसी व्यक्ति के मौलिक अधिकारो को छीना जा सके। अब तक दुनियां मे ऐसी कोई व्यवस्था बन नही सकी है भले ही आंशिक रूप से इस दिशा मे कुछ प्रयत्न हुए भी और धीरे धीरे आगे बढ भी रहे है।

इस तरह व्यक्ति और नागरिक अधिकारो के मामले मे अलग अलग होते हुए भी एक दूसरे के साथ जुडे हुए होते है। क्योकि प्रत्येक व्यक्ति के लिये दोनो भूमिकाओ मे रहना उसकी मजबूरी है और उसकी सहमति के बिना कोई भी अन्य उसकी स्वतंत्रता मे कटौती नही कर सकता। आदर्श व्यवस्था यह होगी कि चरित्र निर्माण मे मुख्य भूमिका परिवार और समाज की होनी चाहिये तथा राज्य को विशेष परिस्थिति मे ही हस्तक्षेप करना चाहिये । वर्तमान समय मे व्यवस्था का अर्थ समाज और परिवार से हटकर राज्य तक सीमित हो गया है। परिवार और समाज को किनारे करके राज्य ने सारी व्यवस्था स्वयं तक सीमित कर ली है। दुनियां के राष्ट्रो के बीच आपसी टकराव भी इसी शक्ति संग्रह के परिणाम होते है। उचित होगा कि राज्य परिवार और समाज अपनी अपनी अलग अलग भूमिकाओ को समझे । राज्य इन भूमिकाओ को अलग अलग सक्रिय होने दे और यदि राज्य ऐसा न करे तो व्यक्तियो को चाहिये कि वे राज्य को इस दिशा मे मजबूर करे। व्यक्ति और नागरिक की अलग अलग पहचान और भूमिका स्पष्ट होनी चाहिये जिसका अभाव वर्तमान अव्यवस्था का मुख्य कारण है।
नोट–मंथन का अगला विषय भय का व्यापार होगा।

सामयिकी

विधायिका न्यायपालिका तथा कार्यपालिका के बीच टकराव चरम पर है। दिल्ली के मुख्य मंत्री की जानकारी मे मुख्य सचिव के साथ मारपीट ने इस विवाद को सडक पर लाकर खडा कर दिया है। विवाद तो पंडित नेहरू के ही कार्यकाल से शुरू हो गया था जब विधायिका ने न्यायपालिका और कार्यपालिका के अधिकारो का अतिक्रमण शुरू किया । लोकतंत्र मे तीनो इकाइयां समकक्ष होती है तथा तीनो एक दूसरे की सहायक भी होती है और नियंत्रक भी। विधायिका ने दादागिरी करते हुए अन्य दो को कमजोर किया । न्यायपालिका ने तो पिछले कुछ वर्षो से अपनी भी दादागिरी दिखाई। किन्तु कार्यपालिका अब भी इन दोनो के दबाव मे है। साधारण सा न्यायाधीश अपने न्यायालय मे इनके साथ जैसी भाषा का प्रयोग करता है वह अपमान जनक होती है। एक गुण्डा भी विधायक या मंत्री बन जाता है तो गर्व से कहता है कि वह जनता का चुना हुआ है अर्थात वह मालिक है तो शेष सब उसके सहायक।

पहली बार दिल्ली मे कार्यपालिका के लोगो ने विधायिका की दादागिरी के विरूद्ध मोर्चा खोला है। मै जानता हूॅ कि सरकारी कर्मचारियों की छवि आम जनता के बीच नेताओ और न्यायाधीशो की तुलना मे ज्यादा खराब होती है क्योकि दोनो अपने सारे अत्याचार इन कर्मचारियों के माध्यम से ही कराते है । इसलिये सारी लूट पाट मे प्रत्यक्ष भूमिका तो इन्ही कर्मचारियों की होती है। फिर भी सैद्धान्तिक रूप से यह शुभ संकेत है कि जनता को गुलाम बनाकर रखने वाली तीनो लोकतांत्रिक इकाईयों के बीच लूट के माल के बटवारे का विवाद अब सडक पर आ गया है। सत्तर वर्षो से दो इकाइयो ने कार्यपालिका के साथ जिस तरह बटवारे मे पक्षपात किया वह अरविन्द केजरीवाल के उन्मादी स्वभाव के कारण सडक पर आ गया। इस संबंध मे कार्यपालिका की मदद होनी चाहिये। क्योकि जब तक टकराव बराबरी का नही होगा तब तक लूट का माल उसके वास्तविक मालिक अर्थात लोक के पास आना संभव नहीं।

सामयिकी

कल उत्तर पूर्वी भारत मे सम्पन्न विधान सभा चुनाव के नतीजे घोषित हुए। त्रिपुरा मे जिस तरह साम्यवादी विचारधारा की पराजय हुई उससे मुझे बहुत ही अधिक प्रसन्नता हुई।

मै बचपन से ही साम्यवाद को दुनियां की सबसे अधिक खतरनाक विचारधारा के रूप मे मानता रहा हूॅ । मैने कई जगह लिखा भी है कि दुनियां मे हिन्दुत्व वैचारिक धरातल पर ब्राम्हण प्रवृत्ति का माना जाता है तो इस्लाम और संघ परिवार क्षत्रिय प्रवृत्ति का, इसाईयत वैश्य प्रवृत्ति और वामपंथ अर्थात साम्यवाद शूद्र प्रवृत्ति का मानना चाहिये। यदि साम्यवाद और इस्लाम की तुलना करे तो साम्यवाद एक खतरनाक विचार धारा है। जिसमे शामिल प्रत्येक व्यक्ति उस विचारधारा का संवाहक होता है, जबकि इस्लाम मे संगठन से जुडा मुसलमान खतरनाक होता है और धार्मिक मुसलमान बहुत ही अच्छा आदमी । मै यह भी स्पष्ट कर दूं कि हर वामपंथी साम्यवादी पूरी तरह बुद्धि प्रधान होता है तो मुसलमान और संघ परिवार के

लोग अधिकांश भावना प्रधान। यही कारण है कि दुनियां मे साम्यवााद बहुत तेजी से आगे बढा और भारत भी उसके प्रभाव मे आया । यहां तक कि पंडित नेहरू भी आंशिक रूप से साम्यवाद से प्रभावित थे। गांधी के साथ काम करते हुए भी पंडित नेहरू ने गांधी वाद की तुलना मे समाजवाद जो साम्यवाद का ही एक संशोधित स्वरूप है, उसे नेहरू जी ने निरंतर बढाया । सन 91 के बाद साम्यवाद का पतन शुरू हुआ और अब लगभग भारत मे उसके अंतिम अवशेष बचे हुए दिख रहे है। उसमे से भी एक को ममता बनर्जी ने निपटा दिया तो दूसरे को कल नरेन्द्र मोदी जी ने मुक्त करा लिया और अब केरल की बारी है। देखिये कितना समय लगता है।

यह अवश्य है कि राजनैतिक धरातल पर साम्यवाद से धीरे धीरे मुक्ति मिल रही है। किन्तु वैचारिक धरातल पर अभी लम्बा समय लगेगा। शिक्षा संस्थान से लेकर न्यायपालिका तक सब जगह इस विचार धारा के लोग बडी संख्या मे स्थापित है। साम्यवाद हमेशा ही वर्ग संघर्ष को विस्तार देता है। वर्ग संघर्ष ही उसका मुख्य आधार है। साम्यवाद के पतन के बाद भी जब तक वर्ग विद्वेश वर्ग संघर्ष से मुक्ति नही मिल जाती तब तक साम्यवाद का खतरा बना ही रहेगा। भारत की राजनीति अब भी वर्ग संघर्ष का कोई अच्छा समाधान नही खोज पाई है। इस विषय पर भी धीरे धीरे सोचा जाना चाहिये।

त्रिपुरा मे साम्यवाद के अप्रत्यासित पतन का प्रभाव संगठित इस्लाम पर भी पडना स्वाभाविक है। साम्यवाद ने अपने पतन से आशंकित होकर इस्लाम को अपने कंधे का उपयोग करने दिया है। अब साम्यवाद की दुर्दशा के कारण इस्लाम को भी कोई नया कंधा खोजना पडेगा। राहूल गांधी खुद ही इस मामले मे ढुलमुल दिखने लगे है। अन्य नेता भी अब इस्लाम के लिये एक पक्षीय समर्थन देने पर सोचने लगे है। ममता बनर्जी भी सोचने लगी है कि एक पक्षिय मुसलमानो का समर्थन उन्हे लम्बे समय तक कंधा नही दे पायेगा। स्वाभाविक है कि त्रिपुरा का अनुभव मुस्लिम संगठनो को भी चिंतित करेगा। इसका अर्थ हुआ कि इस घटना का भारत की संपूर्ण व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पडेगा। मै तो त्रिपुरा की इस साम्यवादी पराजय से बहुत ही अधिक प्रसन्न हुआ और इस घटना को मै एक परिवर्तन कारी घटना के रूप मे मानकर चल रहा हूँ।

सामयिकी

आज कल बैको मे हो रहे हजारो करोड के आर्थिक घोटालो की व्यापक चर्चा है। घोटालो मे पिछली सरकार कितनी दोषी है और वर्तमान सरकार कितनी इसकी लगातार समीक्षा हो रही है। प्रसिद्ध पत्रकार शेखर गुप्ता ने इन आर्थिक घोटालो की जड मे इंदिरा गांधी द्वारा किये गये बैंक राष्ट्रियकरण को मुख्य आधार बताया है। मै पिछले साठ वर्षो से यह मानता रहा हूँ कि हर राजनैतिक दल पहले कुछ समस्या पैदा करता है कि उसके समाधान से ही कोई नई समस्या पैदा हो । बैक राष्ट्रीय करण भी वैसा ही प्रयास था जो विष वीज के रूप मे बोया गया और अब भ्रष्टाचार के विषैले फल पैदा कर रहा है। प्रश्न सिर्फ बैंको तक सीमित नही है जैसा की शेखर जी बता रहे है हर राष्ट्रीयकरण इसी प्रकार भ्रष्टाचार पैदा करता है और बाद मे उसके समाधान के लिये कोई वैसा ही प्रयत्न फिर से शुरू हो जाता है। सारा भारत जानता है कि सरकारी स्कूल हर प्रकार से अव्यवस्था और निकम्मेपन के शिकार है किन्तु कोई भी नेता सरकारी स्कूलो को बंद करने की बात नही करता है। हर सरकारी करण मे भ्रष्टचार छिपा रहता है और हर नेता सरकारी करण की बात करता है। अरविन्द केजरीवाल पूरी तरह विकेन्द्रीत व्यवस्था के पक्षधर रहे किन्तु सत्ता मे आते ही उन्होने निजी स्कूलो पर नियंत्रण की बात शुरू कर दी। मेरे एक मित्र धनवाद के रहने वाले जय किशन जी ने पति पत्नी मिलकर निजी करण के पक्ष मे वातावरण बनाने के लिये पूरा जीवन खपा दिया किन्तु अब तक कोई परिणाम नही निकल पाया । क्योकि भ्रष्टाचार की कीमत पर ही राजनीति टिकी रहती है और राष्ट्रीयकरण की कीमत पर ही भ्रष्टाचार फलता फूलता है। मै शेखर गुप्ता जी से निवेदन करूंगा कि वे बैक राष्ट्रीयकरण को तत्कालीन सरकार की भूल न समझे बल्कि सोची समझी राजनैतिक योजना समझे। वर्तमान भ्रष्टचार का समाधान बैंक राष्ट्रीयकरण को समाप्त करना तो है ही साथ ही हर प्रकार के सरकारीकरण को निरूत्साहित करना होना चाहिये।

प्रश्नोत्तर

1 संजय तिवारी, विस्फोट डांट काम दिल्ली से

विचार–सावरकर के विचारों से पूरी तरह सहमत होना कम से कम मेरे लिये मुश्किल है क्योकि उनकी कट्टरता उन्हे समग्रता मे स्वीकार करने के लिये रोकती है। लेकिन शुरूआती दिनो मे वो ऐसे कट्टर न थे। उन पर शोध करने वाले लोग बताते है कि 1907 तक तो वे मुसलमानो को आजादी की लडाई का हीरो मानते थे। लेकिन कालांतर मे उनका रूख और विचार दोनो बदल गया।

यह जो कालांतर है वह करीब बीस साल का है। इन बीस सालों का इतिहास विस्तार से पढ़ें तो समझ मे आयेगा कि उनके विचारों में कब कहां और कैसे परिवर्तन आया। हिन्दुओं में सावरकर जैसा कट्टर हिन्दुत्ववादी पैदा करने का श्रेय भी मुसलमानों को ही जाता है। 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना ने भारत में पहली बार हिन्दू मुस्लिम ध्रुवीकरण की बुनियाद डाली। ढाका में

तीन हजार मुसलमानों ने एक सम्मेलन किया और मुस्लिम राजनीति के लिए एक राजनीतिक दल बनाने पर सहमति जताई। यहां से मुसलमानों के एक वर्ग ने कांग्रेस से किनारा करना शुरु कर दिया जिसमें बाद में जिन्ना भी शामिल हो गये।

1929 मुस्लिम लीग के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण समय था जब उन्होंने अलग इस्लामिक देश की मांग भी सामने रख दी। इलाहाबाद में मुस्लिम लीग के सम्मेलन में अल्लामा इकबाल ने मुसलमानों के लिए अलग राज्य मांगा जहां वो इस्लामिक शरीयत के हिसाब से एक आदर्श इस्लामिक स्टेट की स्थापना कर सकें।
अब तक सावरकर जेल से छूट चुके थे और वो भी हिन्दुत्व का दर्शन लेकर हाजिर हो गये। फिर भी हिन्दुत्व वादियों की तरफ से सिर्फ वैचारिक स्तर पर ही बात हो रही थी। 1939 में आकर हिन्दू महासभा का गठन किया गया। लेकिन हमारे देश के कुछ कम्युनिस्ट इतिहासकार और बुद्धिजीवी जानबूझकर बंटवारे के लिए सावरकर और हिन्दुत्व को विलेन बनाते हैं ताकि वो मुस्लिम तुष्टीकरण की अपनी वैचारिक कुटिलता को कायम कर सकें। थोड़ा सा भी इतिहास ज्ञान रखनेवाले को यह बात मालूम है कि बंटवारे की राजनीति उस वक्त मुसलमानों की तरफ से शुरु की गयी फिर हिन्दूवादियों ने प्रतिक्रिया किया। लेकिन बंटवारे के गुनहगार वामपंथियों ने आजादी के बाद जब कांग्रेस की पीठ पर बैठकर इतिहास लेखन शुरु किया तो बहुत सेलेक्टिव तरीके से सावरकर, हिन्दू महासभा को विलेन की तरह लोगों के सामने प्रस्तुत किया। जबकि सावरकर उतने स्वीकार्य नही है जितना आर एस एस बताता है और उतने अस्वीकार्य भी नही है जितना कम्युनिस्ट कोहराम मचाता है।

समीक्षा– वीर सावरकर और गांधी समकालीन रहे है । दोनो की कार्य प्रणाली अलग अलग रही है किन्तु उददेश्य एक रहा है। सावरकर अधिक भावना प्रधान थे और गांधी विचार प्रधान । स्वाभाविक है कि भावना प्रधान व्यक्ति विचार प्रधान की तुलना मे त्याग और बलिदान अधिक कर सकता है तो दूसरी ओर भावना प्रधान व्यक्ति सफलता प्राप्त नही कर सकता क्योकि वह किसी मामले मे संतुलित निर्णय नही ले पाता । विचार प्रधान व्यक्ति ही प्ररिस्थिति अनुसार निर्णय कर पाता है। इसलिये वीर सावरकर के प्रति सम्मान व्यक्त किया जा सकता है, कृतज्ञता भी प्रकट की जा सकती है किन्तु किसी भी स्थिति मे अनुकरण नही किया जा सकता।

यह सही है कि मुस्लिम लीग की स्थापना 1906 मे मुठ्ठी भर कटटर पंथी मुसलमानो ने की। उन्हे उस समय जन समर्थन प्राप्त नही था। उस समय वीर सावरकर ने मुस्लिमो की क्रिया के विरूद्ध प्रतिक्रिया करते हुए 1915 मे हिन्दू महासभा की स्थापना कर दी । मेरी अपुष्ट जानकारी के अनुसार हेडगेवार जी उप सभापति बने। इन सबके बाद भी मुस्लिम जनमत गांधी विचारधारा के साथ ही जुडा रहा किन्तु जब वीर सावरकर और डा0 हेडगेवार ने पूरी ताकत से हिन्दू मुस्लिम ध्रूवीकरण पर जोर दिया तब कटटरपंथी मुसलमानो की योजना अधिक तीव्र गति से सफल होने लगी । यदि उस समय वीर सावरकर और डा0 हेडगेवार ने यह भूल नही की होती तो स्वाभाविक है कि ध्रुवीकरण इतने तेज गति से नही होता और भारत विभाजन की मुसलमानो की मांग कभी पूरी नही होती। दूसरी ओर यदि हिन्दू बहुमत मुसलमानो की तरह हिन्दू महासभा या संघ के साथ इकठठा हो जाता तो गृह युद्ध होता और अंग्रेजो की चाल सफल हो जाती, अर्थात न भारत स्वतंत्र होता न ही भारत विभाजित होता । मुझे बताया गया है कि अंग्रेज हमेशा फूट डालो और राज करो की नीति पर चलते रहते थे। हो सकता है कि मुस्लिम लीग की स्थापना करने मे भी अंग्रेजो का ही हाथ हो और हिन्दू महासभा की स्थापना का वातावरण भी उन्होने ही बनाया हो क्योकि आजतक यह बात मानी जाती है कि संध परिवार अंग्रेजो की तुलना मे मुसलमानो का अधिक विरोधी रहा है।

सावरकर के विषय मे एक बात और सुनी जाती है कि वे स्वतंत्रता के बाद भी गांधी के अधिक कटटर विरोधी थे । गांधी हत्या मे भी उनकी भूमिका संदेह के घेरे मे रही है। मै अभी तक नही समझ सका कि विभाजन के प्रमुख कर्ता धर्ता जिन्ना, नेहरू, पटेल अम्बेडकर को माफ करके गांधी विरोध के पीछे उनकी क्या सोच रही है। मै जहां तक समझ सका हूॅ कि सावरकर भावना प्रधान होने के कारण एक ऐसे व्यक्ति रहे है जिनके कंधे पर रखकर अन्य लोग बंदूक चलाने का काम करते रहे। मै तो सावरकर को अब तक ऐसे ही नासमझ राष्ट्र भक्तो मे मानता रहा हूॅ।

यदि हम 1906 को आधार बनाकर वर्तमान स्थिति की समीक्षा करें तो परिस्थितियां बिल्कुल भी अलग नहीं है। आज भी मुसलमानो का एक वर्ग भारत विभाजन के लिये अप्रत्यक्ष रूप से प्रयत्न शील है। दूसरी ओर हिन्दूओ का भी एक बडा वर्ग मुसलमानो के विरूद्ध हिन्दूओ का एकत्रीकरण करना चाहता है। बीच मे नरेन्द्र मोदी इस परिस्थिति को रोकने के लिये प्रयत्नशील है। स्वाभाविक है कि ज्यो ज्यो हिन्दूओ का एकत्रीकरण हो रहा है त्यो त्यो हिन्दू मुस्लिम ध्रूवीकरण भी तेज होता जा रहा है। संघ का एक गुट इस ध्रूवीकरण को कमजोर करके मोदी जी के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने को तैयार है। एक दूसरा गुट तोगडिया जी के नेतृत्व मे उस मार्ग पर बढना चाहता है जिस मार्ग पर वीर सावरकर चले थे। कांग्रेस पार्टी

परिस्थितियो का लाभ उठाने के लिये प्रयत्न शील है। भविष्य क्या होगा यह अभी कहना कठिन है किन्तु इतिहास पुनः अपने को दुहरा रहा है यह बात साफ दिखाई पड रही है।

2 एम एस सिंगला अजमेर राजस्थान

विचार–ज्ञान तत्व 367 मे भूत–प्रेत, तंत्र–मंत्र, जादू–टोना विषय पर चर्चा हुई है। इन्हे कुछ मान्य सिद्धान्त कहा है। वस्तुतः ये अपने आप मे बडे गंभीर विषय है। स्वयं ईश्वर की तरह सूक्ष्म होने से इन्हे भी वही मान पाते है जिन्हे इनसे दो चार होना पडता है। भक्ति के इतने बडे इतिहास मे सूर को ही श्रीकृष्ण से साक्षात्कार हुआ और उन्होने कहा, हाथ छुडाए जात हो निर्बल जान के मोहि, या हृदय ते जाओगे तब जानूगो तोहि। इसी प्रकार भक्त तुलसी की श्री राम से भेट हुई । तुलसी दास चंदन घिसे तिलक करे रघुबीर। मीरा बाई श्री कृष्ण की प्रतिमा मे समाकर अपने प्रीतम से एकाकार हो गई। और न जाने कितने उदाहरण हैं। मृत्यु के बाद प्रेत योनि भी मानी गई है। विशेष रूप से यह उन्हे मिलती है जो संसार से अतृप्त होकर जाते है, बल्कि ऐसी नेष्ठ आत्माएं जो तमोगुण का भारी बोझ लिये रहती है। इसलिये शास्त्रो मे बताया गया है कि अंत समय मे केवल अपने ईष्ट का ध्यान रखे, कोई सांसारिक तृष्णा मन मे न रखे। अधिक विस्तार मे जाना संगत नही लगता। अब प्रश्न आता है कि इस स्थिति मे मानने या न मानने का इस विषय मे आपने अपने अनुभव बताये है। यह भी उपर दिये गये भक्तो के उदाहरण जैसा ही है। वह परम शक्ति जिसे जो देती है उसे वैसा और उतना ही मिलता है न कम न अधिक। विज्ञान ने कितनी ही उन्नति कर ली हो किन्तु वह नही बता सकता कि कोई कुछ भी खाये किन्तु उसका रक्त लाल ही होगा और रक्त से फिर दूध सफेद ही बनता है । उक्त प्रमेय भी ऐसा ही है।

जीव धरा पर आने के बाद वह अनेक अदृश्य शक्तियो से नियंत्रित हुआ रहता है। इसे तुलसी ने कहा है सबै नचावत राम गोसाई। आपके कुछ ग्रह प्रबल होंगे यथा सूर्य और बृहस्पति जिससे आप इस क्षेत्र मे अपनी बताई स्थिति मे है। अपना अनुभव बताउं तो मेरी बडी बहन अपनी दस साल की आयु मे 60 साल पहले चल बसी थी। आज भी मै मानता हूॅ कि उस पर प्रेत बाधा थी। अभी लगभग पंद्रह साल पहले मेरे सबसे छोटे पुत्र को प्रेत बाधा झेलनी पडी और हमारे एक मित्र जो झाड फूंक करना जानते थे उनके उपचार से ठीक हो पाया और भी ऐसा कुछ अनुभव है। यह चर्चा का विषय नही है। केवल अनुभव साझा कर रहा हूॅ।

आपने किसी भी कीमत पर हिंसा को अमान्य कहा है जब कि शास्त्रो मे कहा है कि धर्म की रक्षा के लिये हिंसा आवश्यक है । हमे शास्त्रो मे मंत्र अधूरे बताये जाते है। गोडसे का निर्णय सुनाने वाले जस्टिस खोसला ने जो लिखा वह भी जान लीजिये। उन्होने लिखा कि जो हो इसमे संदेह नही कि उस दिन जो श्रोता मौजूद थे यदि उन्हे जूरी का काम सौप कर गोडसे की अपील पर निर्णय देने को कहा जाता तो भारी बहुमत से उनका फैसला होता, दोषी नहीं। वैसे भी गांधी को राष्ट्र पिता शब्द देना नेहरू की चापलूसी के अतिरिक्त कुछ नही। गांधी ने सबको किनारे करके नेहरू को प्रधान मंत्री बनवा दिया। दूसरी ओर न चाहते हुए भी नेहरू के कहने से विभाजन स्वीकार कर लिया। सुभाष चंद्र बोस सरीखे बलिदानी को राष्ट्रपिता न कहकर गांधी को कहना कितना उचित है।

केवल हिंसा को नकारना पर्याप्त नही है। उसे नकारने या मानने से पहले उसका स्वरूप स्पष्ट होना चाहिये। हिंसा को जानने के लिये उसके कारण स्वरूप मात्रा आदि को ध्यान मे रखना योग्य होगा। क्या अपराधी को शारीरिक दंड देना हिंसा कहलायेगी । आज अपराधी को शारीरिक दंड न देने के कारण ही अपराध बढ रहे है। अभी दो दिन पहले पास के नगर मे एक केबल आपरेटर के एक ट्रेक्टर ट्राली वाले को उसके घर के पास मिट्टी डालने से मना करने के कारण उसने क्रोधित होकर ट्रेक्टर ट्राली पति पत्नी दोनो पर चढा दी जिससे उनकी वही मृत्यु हो गई । ऐसे अपराधी आस्वस्त रहते है कि उन्हे आजीवन कारावास से अधिक दंड नही मिल पायेगा । ऐसे अपराधियो को शारीरिक दंड या मुत्युदंड क्या हिंसा कही जानी चाहिये? क्या ऐसे अपराधियो से कारावास नही भरे पडे है।

उत्तर–ईश्वर है या नही यह मानना प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता है। यदि कोई बात अब तक विज्ञान से सिद्ध नही हो पाई है तो उसे ईश्वरीय मान लेना सिद्धान्त नही बल्कि स्वतंत्रता है। तुलसी मीरा, सूरदास ने जो कहा वह अंतिम सत्य नही माना जा सकता। मार्ग दर्शक विचार तक मान सकते है।

यदि किसी धर्म ग्रंथ मे ऐसा लिखा हो की कोई भी व्यक्ति अपने अनुसार किसी कार्य को अधर्म मानकर हिंसा करने के लिये स्वतंत्र है तो मै ऐसे धर्म ग्रन्थ को विवादास्पद मानूगा। मैने तानाशाही से मुक्ति के लिये हिंसा या अहिंसा मे से किसी भी मार्ग को उचित बताया है। किन्तु लोकतंत्र मे हिंसा विधिवत ही हो सकती है विधि विरूद्ध नही क्योकि अप्रत्यक्ष रूप से विधि समाज द्वारा निर्मित मानी जाती है। इसका अर्थ हुआ कि समाज द्वारा नियुक्त इकाई समाज द्वारा बनाये गये नियमो के अनुसार ही हिंसा कर सकती है। गोडसे न तो समाज द्वारा नियुक्त था न ही उसने समाज द्वारा निर्मित किसी विधि का पालन किया। इसलिये गोडसे का कृत्य पूरी तरह आपराधिक था और विधि अनुसार उसे फांसी दी गई । जो व्यक्ति समाज को अपने तर्को से नही समझा पाता ऐसे निकम्मे लोग ही शक्ति का सहारा लेते है और गोडसे भी ऐसा ही निकम्मे लोगो मे शामिल था। यदि गोडसे का कार्य इतना ही उचित था तो सत्तर वर्षो से गोडसे के पक्ष मे लगातार अभियान जारी रखने के बाद भी एक प्रतिशत से अधिक लोग गोडसे को निर्दोष नही मानते। मै तो निन्यानवे प्रतिशत मे शामिल हूॅ। जहां तक भारत विभाजन मे गांधी की भूमिका की आपने चर्चा की है । गांधी को नेहरू की अपेक्षा सरदार पटेल पर अधिक विश्वास था कि वे भारत विभाजन का विरोध करेंगे किन्तु जब सरदार पटेल ही विभाजन के लिये सहमत हो गये तो गांधी के पास अन्य कोई मार्ग नही बचा। सरदार पटेल के कलंकित कार्य को आवरण देने के लिये सत्तर वर्षो से लगातार गांधी को विभाजन को दोषी बताया

जा रहा है। गांधी ने प्रधानमंत्री पद के लिये पटेल की तुलना मे नेहरू को अधिक महत्व दिया। उसका कारण कोई व्यक्तिगत प्रेम नही था । पटेल बालिग मताधिकार के पक्ष मे न होकर सीमित मताधिकार के पक्ष मे थे तो नेहरू बालिग मताधिकार के । सुभाष बाबु तो अल्प काल के लिये तानाशाही तक की वकालत करते थे । किसी तानाशाह को राष्ट्रपिता मानना कितना उचित है यह मै नही कह सकता। जो लोग गांधी की तुलना मे पटेल सुभाषचंद्र बोष या गोडसे के विचारो की चर्चा करते है उसमे केवल एक ही विरोधाभाष है कि ऐसे सभी लोग एकात्मक शासन के पक्षधर रहे है। जबकि नेहरू विकेन्द्रीत शासन के और गांधी अकेन्द्रित शासन के । मै स्वयं अकेन्द्रित शासन प्रणाली का पक्षधर रहा हूँ । इसलिये मुझे केन्द्रित शासन प्रणाली के प्रति निरंतर विरोध बना रहता है।

हिंसा का कारण चाहे जो भी हो, उसके पीछे कोई भी परिस्थिति हो, किन्तु समाज द्वारा नियुक्त व्यक्ति को ही समाज द्वारा बनाई गई विधि के माध्यम से हिंसा का सहारा लेना चाहिये, अन्यथा नही । मै प्रारंभ से ही अपराधियो को और अधिक कठोर दंड देने का पक्षधर रहा हूँ। किन्तु मै कभी इस बात का पक्षधर नही रहा कि कोई भी व्यक्ति जब चाहे तब किसी गलत व्यक्ति को गलत कार्य के लिये दंड दे दे। किसी ने यदि मिटटी डालने का कार्य किया ओर रोकने वाला गलत भी था तो उसे कुचल कर मार देना अपराध था। ऐसे अपराधी को विधि अनुसार दंडित होना चाहिये। यदि गांधी गलत थे तब भी गांधी हत्या किसी भी प्रकार से गलत कार्य थी और ऐसा गलत करने वाले को जो दंड दिया गया वह भी अपर्याप्त था। मै आपसे सहमत हूँ कि ऐसा मामलो मे और भी कठोर शारीरिक दंड की व्यवस्था होनी चाहिये, भले ही वह किसी रूप मे अमानविय भी क्यो न हो। ट्रेक्टर से कुचलने वाले को दंड दिया जाय और गोडसे का बचाव किया जाय, आपका कथन पक्षपात पूर्ण लगा ।

उत्तरार्ध

एक निवेदन संविधान मंथन सभा के लिये

लोकतंत्र लोक नियंत्रित तंत्र होता है लोक नियुक्त नही। दुर्भाग्य से भारत का लोकतंत्र लोकनियंत्रित न होकर लोक नियुक्त तक सिमट गया है जहां लोक तंत्र को नियुक्त तो कर सकता है किन्तु नियंत्रित नही कर सकता। लोकतंत्र मे संविधान का शासन होता है तो तानाशाही मे शसन का संविधान । लोकतंत्र मे लोक समाज का प्रतिनिधित्व करता है तो तंत्र शासन का । भारत मे संविधान का शासन माना जाता है और संविधान ही जनता द्वारा नियुक्त तंत्र के विभिन्न समूहों को शक्ति भी देता है और नियंत्रित भी करता है। स्पष्ट है कि संविधान तंत्र पर नियंत्रण के लिये लोक का प्रतिनिधित्व करता है किन्तु स्वतंत्रता के बाद संविधान संशोधन के अंतिम अधिकार तंत्र ने ही अपने पास समेट कर अप्रत्यक्ष रूप से संसदीय लोकतंत्र को संसदीय तानाशाही मे बदल दिया । तंत्र के ही विभिन्न घटक न्यायपालिका तथा विधायिका के टकराव भी इसी शक्ति संग्रह के परिणाम हैं।

उचित होगा कि संविधान तंत्र के हस्तक्षेप से पूरी तरह मुक्त होकर तंत्र पर नियंत्रण के लिये लोक का प्रतिनिधित्व करे। इसलिये संविधान संशोधन के अंतिम अधिकार तंत्र के पास न होकर किसी ऐसी इकाई के पास होने चाहिये जो तंत्र की तीनो इकाइयों से अलग हो तथा जिसका तंत्र के किसी काम से सीधा संबंध न हो। कोई भी इकाई जो कानून भी बनाती है, कार्यान्वित भी कराती है तथा व्याख्या भी करती है वही संविधान संशोधन नही कर सकती । संविधान संशोधन की प्रक्रिया इन सबसे मुक्त होनी चाहिये।

इन संबंध मे दो भिन्न दिशाओ से प्रयत्न जारी है। 1 ग्राम संसद अभियान 2 संविधान मंथन सभा। ग्राम संसद अभियान वर्तमान संविधान मे भविष्य मे किये जाने वाले संशोधनो मे ग्राम सभा की भूमिका निश्चित करने हेतु जन जागरण कर रहा है। किन्तु स्पष्ट है कि तंत्र के विभिन्न घटको ने समय समय पर संविधान मे सैकडो ऐसे संशोधन किये जिनमे लोक की कोई प्रत्यक्ष भूमिका भी नही रही तथा अनेक संशोधन तंत्र के विभिन्न घटको के बीच शक्ति संग्रह के निमित्त किये गये। दूसरी बात यह भी है कि जिस कालखंड मे संविधान बना उस समय गुलामी का काल था। स्वाभाविक है कि परिस्थिति वश कई समझौते भी करने पडे होंगे । उचित प्रतीत होता है कि इस स्थिति मे संविधान की व्यापक समीक्षा करके संविधान संशोधन का एक ऐसा संक्षिप्त प्रारूप बने जिसके आधार पर संविधान संशोधन हेतु जन जागरण किया जा सके। संविधान मंथन सभा इस दूसरे कार्य का दायित्व स्वीकार करके इस दिशा मे सक्रिय है।

आपसे आग्रह है कि आप संविधान मंथन सभा की इस सक्रियता के साथ जुडकर हम सबके साथ सहयोग का आदान प्रदान करने की कृपा करे।